Chapter - 4

चतुर्थ अध्याय

अध्याय - 4

स्त्री - विमर्श :

(i) स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्वाधीन स्त्री का आविर्भाव :

भारतीय समाज में स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता का विकास कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि एक लंबी संघर्ष - प्रक्रिया का परिणाम है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में समाज-सुधार आंदोलन के साथ-साथ स्त्री की परंपरागत अवधारणा टूटने लगती है और स्वाधीनता आंदोलन के दौरान अपनी अस्मिता के प्रति सजग स्त्री अपनी नयी भूमिका के लिए तैयार होती दिखायी देती है। इसी समय नारी मुक्ति आंदोलन ज़ोर पकड़ता है और भारतीय स्त्रियों की जड़ता टूटती दिखायी देती है। इस जड़ता के टूटने का केन्द्रीय कारण यद्यपि आर्थिक स्वतंत्रता है किन्तु इसके साथ ही सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक आदि तमाम तरह की स्वतंत्रताएँ भी महत्वपूर्ण हैं। इस संदर्भ में विश्वप्रसिद्ध लेखिका 'सिमोन द बूआ ' की यह बात सटीक जान पड़ती है कि :

"हमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि केवल आर्थिक स्थिति के बदलते ही स्त्री में पूर्ण परिवर्तन हो जाएगा। यद्यपि मानव विकास के क्रम में आर्थिक अवस्था एक आधारभूत तत्व है, जो व्यक्ति का नियंता है, किन्तु इसके बावजूद, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अवस्थाओं में भी परिवर्तन की पूरी जरुरत है, जिनके बदले बिना नई स्त्री का आविर्भाव संभव नहीं होगा।"[1]

एक स्वाधीन स्त्री को संस्थानों के अनेक रूपों से जूझना पड़ता है। राजनीति, समाज, परिवार, धर्म, संबंध आदि बाहरी चीज़ों के साथ-साथ उसे स्वयं से भी जूझना पड़ता है क्योंकि स्त्री की पराधीनता के पीछे अपने पारंपरिक स्वरूप से गहरी आसक्ति भी है। वह अपनी विनम्र, शालीन तथा काल्पनिक छवि की रक्षा में प्राणपण से लगी रहती है। इस संदर्भ में सीमोन द बूआ की स्थापना थोड़े अतिरेक के बावजूद काफी सहमति की गुंजाइश रखती है :

"यह ठीक है कि आधुनिक समाज में पहले की अपेक्षा स्त्री के लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती है किन्तु अब भी उसको पहला कदम सामाजिक विद्वेष के बीच ही उठाना पड़ता है .. .. एक नई शुरूआत में जो एक गोरे अमरीकी को पहले से विरासत में मिली होती है, एक औरत को एक नीग्रो की ही तरह अपने आसपास के माहौल से जूझना पड़ता है। .. .. स्त्री चाहे विवाहिता हो या अपनी गृहस्थी और परिवार में रहती हो, एक पुरूष की तुलना में परिवार उसके कार्य-व्यवसाय को अपेक्षित महत्व नहीं देता। परिवार उस पर कार्यों का बोझ तो लादता ही जाता है, आचार-व्यवहार के नाम पर कदम-कदम पर उसके कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप भी करता है।"[2]

संस्थानों से टकराने और टकराकर टूटने, बिखरने, अपमानित होने और अंततः उन्हीं संस्थानों के प्रति समर्पित हो जाने की नियति को अनेक रचनाकारों ने अभिव्यक्त किया है। इन लेखकों के नारी पात्रों की मूल आकांक्षा सुखद भविष्य और

सामाजिक स्वीकृति है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नारियों की तरह 'स्वाधीन व्यक्तित्व' और 'स्वतंत्र कैरियर' जैसी उलझी हुई माँगें उनके यहाँ प्रायः नहीं मिलती हैं। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान सामाजिक मान्यताओं को जबरदस्त चुनौती देने वाली नारियाँ जरूर दिखाई देती हैं, लेकिन वह अपने 'स्वाधीन व्यक्तित्व' के लिए चिन्तित नहीं है, बल्कि अमानवीय परिस्थितियों में जीने के लिए अभिशप्त स्त्रियों के जीवन को थोड़ा मानवीय बनाना चाहती हैं। ये नारियाँ संस्थानों के अनेक रूपों - पति, संतान, परिवार, समाज, परंपरा और संस्कारों से जूझतीं हैं और जूझकर वह उपलब्धि अर्जित करना चाहती हैं ताकि आनेवाली पीढियाँ उन यातनाओं से मुक्त रहें, जिनसे ये क्षत-विक्षत हुई हैं। इन स्त्रियों की आकांक्षा संस्थानों से टकराकर अपनी स्वतंत्र अस्मिता का निर्माण करना नहीं है, बल्कि संस्थानों के भीतर रहते हुए अपने लिए सुखद जीवन की तलाश है। एक छोटा-सा घर, पति और संतान, पारस्परिक सौहार्दपूर्ण संबंध - विधान तथा जीवन - निर्वाह के लायक परिस्थितियाँ - यानी वे सभी चीजें जो एक व्यक्ति के जीवन को सुखद और संतुष्ट बना सकती हैं, यही स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान स्त्री-आकांक्षा का बुनियादी रूप है। प्रेमचन्द, शरतचन्द्र, जैनेन्द्र आदि के उपन्यासों में 'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' के रूप में स्वयं को खोजती स्त्री सहज ही नज़र आ जाती है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में ध्रुवस्वामिनी, अलका, मालविका आदि स्त्री पात्रों में नई स्त्री के आविर्भाव के संकेत मिल जाते हैं।

भारतीय स्त्रियों की आकांक्षा की प्रकृति सामाजिक संरचना के परिवर्तन से गहरे रूप से जुड़ी हुई है। भारतीय समाज का प्रारंभिक रूप 'स्वायत्त ग्रामीण - व्यवस्था' का रहा है जिसमें संयुक्त परिवार की प्रथा आधारशिला के रूप में विद्यमान रही है। अंग्रेजों के आगमन, औद्योगिक विकास, महानगरों के विस्तार और अनेक पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वयन से भारतीय समाज का यह बुनियादी ढाँचा धीरे-धीरे क्षतिग्रस्त होने लगता है और उसका स्थान व्यक्ति-प्रधान इकाईयाँ लेने लगती हैं। स्वतंत्रता पूर्व के भारतीय जीवन में जहाँ परिवार और समाज का महत्व केन्द्रीय था, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन में 'व्यक्ति' का महत्व केन्द्रीय हो गया। सामाजिक संरचना में परिवर्तन के कारण भारतीय स्त्रियों की आकांक्षा में भी परिवर्तन आया। सभ्यता के विस्तार और सामाजिक संरचना के अधिकाधिक जटिल हो जाने के कारण भारतीय नारियों की आकांक्षा भी अधिक जटिल और उलझी हुई हो गई। स्वतंत्रता के पहले की भारतीय नारियों की इच्छा एक घर, पति, संतान और सुखद भविष्य तक सीमित है लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नारियाँ इनके साथ-साथ 'स्वतंत्र व्यक्तित्व', यश, प्रतिष्ठा और 'बेहतर कैरियर' भी चाहती हैं। पहले भारतीय नारियाँ जहाँ सामाजिक संबंधों में अपनी सार्थकता की तलाश करती थीं, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नारियाँ 'व्यक्तिगत उपलब्धि' को अपनी सार्थकता का पर्याय मानती हैं। वस्तुतः 'कैरियर वुमन' का जन्म स्वतंत्रता के बाद ही होता है। शिक्षित, सुसंस्कृत एवं सम्मानित नागरिक बनने की चाह स्त्रियों में दिनोंदिन तीव्र होने लगी जिससे उन्हें 'द्वितीय श्रेणी' से मुक्ति मिल सके। 'सुवर्ण' के माध्यम से आशापूर्णा देवी ने भारतीय नारियों की सामूहिक इच्छा को साकार कर दिया है :

"किन्तु उसके चाहने की सीमा इतनी ही है क्या ? एक टुकड़ा बरामदा, छत पर जाने की एक सीढ़ी ? बस ? और कुछ नहीं। आजीवन सुवर्णलता ने इतना ही चाहा ? नहीं। बेहया सुवर्णलता ने और भी बहुत कुछ चाहा। पाया नहीं, फिरभी चाहा। चाहने के कारण लांछित हुई, उत्पीडित हुई, हास्यास्पद हुई, फिरभी उसके चाहने की परिधि बढ़ती ही गई। सुवर्णलता ने भव्यता चाही, सभ्यता चाही, आदमी की तरह जीना चाहा। बाहर की दुनिया से नाड़ी का योग रखना चाहा। उसने देश के बारे में सोचना चाहा, देश की पराधीनता का अंत चाहा। तो फिर सुवर्णलता को उसका पति, सास, जेठ, देवर पागल क्यों न कहे।"[3]

आज भारतीय नारियाँ घर की चार दीवारी या रसोई घर तक अपने को सीमित रखना नहीं चाहती हैं, बल्कि अपने क्षितिज का विस्तार करना चाहती है। राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में शामिल होकर वह अपने लिए, अपने समाज के लिए और अपने राष्ट्र के लिए पूर्ण स्वाधीनता चाहती हैं। समाज और राष्ट्र की वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त करने का एक मुख्य साधन है - 'राजनीति' और इस धरातल पर नारियाँ पूरी तरह जागरूक और सक्रिय हैं।

आर्थिक आत्मनिर्भरता स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नारियों का केन्द्रीय सरोकार रहा है। राष्ट्र की स्वाधीनता, महानगरों के विकास और महिलाओं के लिए रोजगार के नये-नये अवसर - इन सब चीज़ों ने मिलकर भारतीय समाज में एक स्वतंत्र नौकरीपेशा महिला वर्ग का अस्तित्व संभव बनाया और तभी से भारतीय समाज में महिलाओं की एक स्वतंत्र वर्गीय पहचान संभव हो पायी। छठे-सातवें दशक में भारतीय समाज में नारी-मुक्ति के आंदोलन का दूसरा दौर प्रारंभ होता है जब स्त्रियाँ अनेक व्यापारिक संगठनों, सहकारी समितियों और रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहित करनेवाली संस्थाओं का गठन करती हैं। नारी-मुक्ति आंदोलन के इस चरण में नारियाँ न सिर्फ कलाकर्म को स्वतंत्र पेशे के रूप में अपनाती हैं बल्कि शिक्षा, प्रशासन, सामाजिक कार्य, राजनीति, पत्रकारिता और स्वतंत्र व्यावसायिक उद्यम को भी अपने 'कैरियर' के रूप में चुनती हैं। अब तो सेना, पुलिस, विमान-चालन आदि नये क्षेत्रों में भी इन्होंने प्रवेश करना प्रारंभ कर दिया है। नारी मुक्ति आंदोलन के इस दूसरे चरण का भारतीय स्त्रियों के जीवन पर आमूल परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा और इसने भारतीय साहित्य में महिला रचनाकारों की एक सशक्त पीढ़ी को जन्म दिया। भारतीय नारियों के जीवन में आने वाले इस सांस्कृतिक और सामाजिक जागरण के संबंध में लक्ष्मी होल्मस्ट्रोम की बात पूरी तरह युक्तिसंगत लगती है : -

"सातवें दशक में नारी जागरण के दूसरे दौर को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है जब झोंपड़पट्टी वासियों तथा जनजातीय लोगों को संगठित करने के लिए अनेक स्त्रियाँ, व्यापारिक संघों और सहकारी समितियों की स्थापना में मदद करती हैं। इस बीच महिलाओं की शिक्षा तथा विभिन्न प्रकार के कामों में लगी हुई स्त्रियों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। अनेक नवोदित महिला रचनाकार इस सक्रिय परिवेश की उपज हैं।"[4]

महिलाओं के नौकरी पेशा होने के कारण पारिवारिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन उपस्थित होता है और इसके कारण स्त्री तथा पुरूष का आपसी संबंध सबसे अधिक प्रभावित होता है। स्त्री-पुरूष संबंध का पुराना ढाँचा क्षतिग्रस्त हो जाता है और स्त्रियाँ अब पुरूषों के समान अपने हक का दावा पेश करती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि स्त्री और पुरूष का संबंध, जो पहले समर्पण का था, अब प्रतियोगिता और चुनौती का हो जाता है। अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वंतत्र आकांक्षाओं के कारण स्त्री-पुरूष एक दूसरे के सामने चुनौती देते हुए खड़े हो जाते हैं।

आधुनिक नारी की आकांक्षा का एक अन्य पहलू है 'कैरियर' के प्रति इनकी प्रतिबद्धता। लेकिन इन नौकरीपेशा महिलाओं को पारिवारिक और सामाजिक स्वीकृति के लिए काफी संघर्ष करना पड़ता है और तब भी स्वीकृति उन्हें बहुत मुश्किल से मिल पाती है। सबसे पहली चुनौती इन्हें अपने परिवार वालों की झेलनी होती है और विशेषतः पुरूष की क्योंकि कोई भी पुरुष अपनी स्त्री का उत्थान वहीं तक चाहता है, जहाँ तक उसके व्यक्तित्व को कोई ठेस न पहुँचे और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बरकरार रहे। पुरुष साधारणतः अपने 'प्रभुत्व' को ठेस पहुँचाने वाली महत्वाकांक्षी स्त्री को सहर्ष स्वीकार नहीं कर पाता और परिणामतः उनका पारिवारिक जीवन तनावपूर्ण हो जाता है।

दूसरों के द्वारा दिये गए आधे-अधूरे समाधान की जगह स्वयं अपने लिए स्वतंत्र जीवन मूल्यों और जीवन पद्धतियों की खोज स्वातंत्र्योत्तर भारतीय नारियों की आकांक्षा का एक प्रमुख बिन्दु रहा है। परंपरागत संस्थान स्वतंत्र जीवन मूल्यों का निषेध करते हैं और सहज स्वाभाविक जीवन को अवरूद्ध करते हैं। आज की नारी स्वयं को 'टाइप' बनाये जाने का विरोध करती है। 'वस्तु' के रूप में परिभाषित होने पर उसे आपत्ति है और व्यावसायीकरण के इस अतिरेक का अस्वीकार नारी-आक्रोश के रूप में आधुनिक साहित्य में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। पहले की नारी के लिए जहाँ घर की देहरी, मर्यादा, एकनिष्ठता, समर्पण आदि महत्वपूर्ण थे, आधुनिक नारी इन मूल्यों को अस्वीकार करते हुए अपने लिए सहज और मुक्त जीवन वरण करना चाहती हैं। परंपरागत भारतीय नारियों में जहाँ काम-संबंधों के प्रति एक प्रकार का अपराध-बोध मिलता है, आधुनिक नारियों के दृष्टिकोण में देहराग की सहज स्वीकृति है।

इस प्रकार स्वाधीनता आंदोलन के दौरान तथा बाद में स्वातंत्र्योत्तर भारत में नारी-मुक्ति के विभिन्न आंदोलनों के द्वारा एक नए प्रकार की स्त्री का जन्म होता है - जो आधुनिक है, शिक्षित है, अपने व्यवसाय कैरियर के प्रति जागरूक है, पारंपरिक संस्थाओं के बंधनों को अस्वीकार करती है और अपने लिए संपूर्ण स्वाधीनता चाहती है।

(ii) राकेश के नाटकों में स्त्री अस्मिता के विविध आयाम :

क्रांतिकारी ईरानी कवयित्री मर्जियेह ऑस्कोई ने स्त्री अस्मिता की तलाश को अपनी कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है :

"मैं एक माँ
एक बहन
एक बेटी
एक अच्छी पत्नी
एक औरत हूँ
एक औरत जो न जाने कब से
नंगे पाँव रेगिस्तानों की धधकती बालू में
भागती .. .. .. रही है ।
.. ..
एक औरत जो न जाने कब से
धान के खेतों और चाय के बगानों में
अपनी ताकत से ज्यादा मेहनत करती आयी है ।
.. ..
एक औरत जो पहाड़ों की गोद में बच्चे जनती है
जिसकी बकरी मैदानों में कहीं मर जाती है
और वह बैन करती रह जाती है ।
.. ..
जो अपने हाथों से फैक्ट्री में
देवकाय मशीनों के चक्के घुमाती है
वह मशीनें जो उसकी ताकत को
ऐन उसकी आँखों के सामने
हर दिन नोंचा करती हैं
.. ..
एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहूदा शब्दावली में

एक शब्द भी ऐसा नहीं
जो उसके महत्व को बयान कर सके
तुम्हारी शब्दावली केवल उसीकी बात करती है
जिसके हाथ साफ हैं
जिसका शरीर नर्म है
जिसकी त्वचा मुलायम है
और जिसके बाल खुशबूदार हैं।"[5]

राकेश के नाटकों में भी स्त्री सिर्फ माँ, बहन, बेटी और पत्नी के रूप में ही दर्शायी नहीं गयी है, बल्कि कस्तूरी मृग सी स्वयं को तलाशती भी नज़र आती हैं। प्रसाद ने जिस प्रश्न को ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से उठाया था - 'आज यह फैसला हो जाए कि मैं 'कौन' हूँ ? ' - राकेश के सभी स्त्री पात्र इस प्रश्न से रू-बरू हैं। अपने पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में 'भावना में भावना का वरण' करने वाली मल्लिका भी स्पष्ट शब्दों में यह कहती है कि :

"मल्लिका का जीवन उसकी अपनी संपत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है ? "[6]

मल्लिका के चरित्र में परंपरागत संस्कार और आधुनिकता बोध दोनों का सामंजस्य मिलता है, इसी कारण वह पूरी तरह न तो स्वाधीन हो पाती है और न ही विवाहित होकर घर की चार दीवारी में सुखी। संबंधों के स्तर पर जीने वाली मल्लिका के चरित्र का यही विरोधाभास उसकी त्रासदी को धनीभूत करता है। स्त्री के कोमल, स्नेहमयी एवं प्रिय रूप को मल्लिका साकार करती है। हरिण-शावक के प्रति उसका अनुराग, कालिदास में आस्था, प्रकृति से लगाव, माँ से प्यार और अपनी बेटी के प्रति उत्तरदायित्व की भावना, उसकी चरित्रगत विशेषताओं को उभारकर उसकी गरिमा को बढ़ाते हैं। कालिदास को स्वयं से दूर करके अपनी भूमि से विरोपित कर उज्जयिनी भेज़ने की जिद करनेवाली मल्लिका जानती थी कि कालिदास के जाने पर उसके अन्दर का कोई कोना रिक्त हो जाएगा। वह यह भी जानती थी कि शायद आदर, सत्कार, संपत्ति और पद के मोह में कालिदास उसे भूल जाए, किन्तु फिरभी स्वयं को होम कर कालिदास के जीवन को सफल बनाना उसका ध्येय था। श्रद्धा के संबंध में जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित ये पंक्तियाँ मल्लिका के चरित्र को भी पूरी तरह परिभाषित करती हैं :

"इस अर्पण में कुछ और नहीं केवल उत्सर्ग छलकता है,
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है।"[7]

उज्जयिनी में कालिदास ऋतुसंहार, कुमारसंभव, मेघदूत आदि लिखते रहे और मल्लिका आत्म प्रवंचना में जीती रही :

"मैं रो नहीं रही हूँ माँ। मेरी आँखों में जो बरस रहा है, यह दुख नहीं है। यह सुख है, माँ, सुख .. .. ..।"[8]

खुद को दुख देकर अपने प्रिय को सुख देना भी अपनी गरिमा को बढ़ाना ही है और इस छलावे के पीछे है अपने परंपरागत रूप से गहरी आसक्ति।

परंपरागत संस्कार जहाँ उसे एक ओर घर से बाँधते हैं, वहीं दूसरी ओर उसके आंतरिक सौंदर्य को उभारते भी हैं। अंबिका के सामने वह अपने को खोल कर रख देती है और एक हठी, चंचल किन्तु निर्भीक बालिका के रूप में नज़र आती है, वहीं प्रियंगुमंजरी और विलोम के साथ उसके संवाद तल्खी और व्यंग्य से भरे हुए हैं। प्रियंगुमंजरी द्वारा आत्मग्लानिवश दी गई सुविधाओं को स्वीकार करना मल्लिका के स्वाभिमानी व्यक्तित्व को आहत करता है इसलिए वह इन समस्त सुविधाओं को अस्वीकार कर देती है। विलोम का उसके घर एवं जीवन में हस्तक्षेप मल्लिका को कभी भी रुचिकर नहीं लगा। यही कारण है कि विलोम की उपस्थिति उसमें आक्रोश भर देती है। मातुल के प्रति उसका पितावत आदर और प्रेम झलकता है, तो अपने परिवेश के प्रति उसका लगाव भी पूरे नाटक में विद्यमान है। 'कनुप्रिया' की राधा जिस तरह कृष्ण के इतिहास-पुरुष बनने में अहम भूमिका निभाती है उसी तरह मल्लिका भी कालिदास की प्रेरणा का स्रोत है। अपनी इस महत्वपूर्ण भूमिका से मल्लिका पूरी तरह अवगत है। कालिदास के संन्यास लेने की खबर सुनकर वह आहत हो उठती है और इस प्रसंग में व्यक्त उसके उद्‌गार उसके अस्मिता बोध को पूरी तरह मुखर करते हैं :

"मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो, मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे, और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है। और आज तुम मेरे जीवन को इस तरह निरर्थक कर दोगे ?

.. ..

तुम जीवन से तटस्थ हो सकते हो, परन्तु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती

.. ..

जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी-कितनी आकृतियाँ हैं। जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण अर्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल विशेषण हूँ।

.. ..

परन्तु मैंने यह सब सह लिया। इसलिए कि मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो। क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी। और आज यह सुन रही हूँ कि तुम सब छोड़कर संन्यास ले रहे हो ? तटस्थ हो रहे हो? उदासीन ? मुझे मेरी सत्ता के बोध से इस तरह वंचित कर दोगे ? "[9]

अपना सर्वस्व समर्पण करनेवाली मल्लिका का उपरोक्त वक्तव्य उसके अस्मिता बोध की भावना को पूरी तरह उजागर कर देता है। अपना सब कुछ खो चुकने एवं अत्यंत द्रारिद्रय की स्थिति में जीते हुए भी वह सत्ता के बोध से वंचित होना नहीं चाहती है। यही वह बिन्दु है जहाँ मल्लिका परंपरागत भारतीय नारी के समर्पणमूलक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए भी अस्मिता बोध की प्रखर चेतना के कारण आधुनिकता के रंग में भी सराबोर हो उठती है।

कालिदास की अपेक्षा मल्लिका का चरित्र अधिक संतुलित, निश्चित और द्वन्द्वरहित है। रोमानी तत्व की प्रधानता होने के बावजूद, वह कभी भी यथार्थ से कतराती नहीं है। प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना भी वह धैर्य एवं संयम के साथ करती है। जीवन जैसा भी है, उसे उसी रूप में सहर्ष स्वीकार करना मल्लिका के चरित्र की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसी कारण बच्ची के रोने का शब्द सुनकर कालिदास हतप्रभ रह जाते हैं किन्तु मल्लिका निर्भीक स्वर में यह कहने का साहस रखती है कि - 'यह मेरा वर्तमान है।' स्वयं अपने आपसे और जीवन यथार्थ से भागते कालिदास की कमजोरी मल्लिका के चारित्रिक वैशिष्ट्य को और भी प्रखर रूप से उजागर करती है।

'आषाढ़ का एक दिन' का दूसरा महत्वपूर्ण नारी पात्र है - अंबिका। मल्लिका के विपरीत अंबिका का जीवन भावना का नहीं, वरन् कर्म का विषय है। वह जीवन की क्रूर वास्तविकताओं से पूरी तरह अवगत है, इसलिए उसकी जीवन दृष्टि अधिक व्यावहारिक है। मल्लिका और कालिदास के संबंध को वह तटस्थ भाव से विश्लेषित करती है। इसलिए वह समझ पाती है कि मल्लिका कालिदास के लिए सिर्फ एक उपादान है, जिसके माध्यम से कालिदास स्वयं से प्रेम करता है। मान-मर्यादा, लोक-अपवाद, लोक-नीति जैसे सामाजिक व्यवहार अंबिका की जीवन दृष्टि को बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अंबिका जीवन पर्यंत मल्लिका को कालिदास के प्रभाव से बचाने की चेष्टा करती रही। इस प्रयत्न में कई बार उसने तीखे व्यंग्य, अशोभनीय व्यवहार एवं आरोप-प्रत्यारोपों का भी सहारा लिया, किन्तु मल्लिका की जिद के आगे उसके ममत्व को झुकना पड़ा। अंबिका के चेहरे की झुर्रियाँ उसके शरीर एवं आत्मा पर समय की चोट के निशान हैं। अपनी बेटी को अभाव से बचाने के लिए वह स्नेहमयी माँ जीवन भर तिल-तिल कर गलती रही । समय के थपेडों ने अंबिका की कोमलता को नष्ट कर उसे शुष्क और श्री हीन कर दिया था, लेकिन ऊपर से शुष्क होते हुए भी अंदर से वह स्नेहमयी एवं संवेदनशील थी। प्रियंगुमंजरी जब मल्लिका को अपनी संगिनी बनाकर अपने साथ उज्जयिनी ले जाने का प्रस्ताव रखती है और उनके घर के परिसंस्कार हेतु स्थपतियों को निर्देश देती है, तो अंबिका अपने आक्रोश को दबा नहीं पाती है। इस प्रसंग में अंबिका का विलाप तीखे व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्त होता है :

"अंबिकाः लो, मेघदूत की पंक्तियाँ पढ़ो। इन्हीं में न कहती थीं उसके अन्तर की कोमलता साकार हो उठी है ? आज इस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया ? ....

आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहता है, तो क्यों नहीं स्वीकार कर लेती ? घर की भित्तिओं का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके यहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी। इससें बड़ा और क्या सौभाग्य तुम्हे चाहिए ?

मल्लिकाः राजकन्या की अपनी जीवन-दृष्टि है माँ। उसके लिए और कोई कैसे उत्तरदायी हैं ?

अंबिकाः परन्तु राजकन्या के यहाँ आने के लिए कौन उत्तरदायी हैं ? निःसंदेह यह उस किसी की इच्छा के बिना यहाँ नही आयी। राज्य के स्थपति घर की भित्तियों का परिसंस्कार कर देंगे। आज वह शासक है, उसके पास संपत्ति है। उस शासन और संपत्ति का परिचय देने के लिए इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था ? "[10]

यद्यपि अंबिका के चरित्र में 'स्त्री' पर 'माँ' हावी है, किन्तु स्त्री का आत्म-सम्मान एवं आत्म-गौरव उसने अभाव की जिंदगी जीते हुए भी बचाकर रखा है। उसका उपरोक्त वक्तव्य एक स्त्री के आहत आत्माभिमान की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। उसका जीवन सामाजिक व्यवस्था और संस्थानों से टकराती अकेली स्त्री के अनथक संघर्ष की गाथा है। व्यंग्य उसके स्वभाव का हिस्सा नहीं, बल्कि जीवन की विडम्बनापूर्ण परिस्थिति में स्वयं को और अपने परिवार को बचाये रखने का अस्त्र है। जीवन से निरंतर संघर्ष करती हुई अंबिका 'भावना' के स्तर पर नहीं, बल्कि यथार्थ के स्तर पर जीती है। इसलिए कालिदास के प्रति मल्लिका का प्लैटोनिक प्रेम उसे बिल्कुल प्रभावित नहीं कर पाता। इस प्रेम से थोड़ी देर मन तो बहलाया जा सकता है, लेकिन जीवन नहीं जिया जा सकता। अंबिका का निम्नलिखित वक्तव्य उसकी यथार्थपरक जीवनदृष्टि का साफ तौर पर संकेत करता है :

"तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना है। .. .. .. भावना में भावना का वरण किया है ! .. .. .. मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है ? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं ? .. .. .. भावना में भावना का वरण । हँ ।"[11]

'आषाढ़ का एक दिन' का एक अन्य महत्वपूर्ण स्त्री पात्र है - प्रियंगुमंजरी। राजसत्ता का दर्प, सौंदर्य का अभिमान एवं राजनैतिक ज्ञान की ठसक, प्रियंगुमंजरी के व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण आयाम है। मल्लिका के सौंदर्य को लेकर स्पर्धा भाव और ग्राम्य प्रांतर के वातावरण को अपने साथ उज्जयिनी ले जाने का हठ उसके वैवाहिक जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करता है। वह ऐसा समझती है कि शायद यहाँ का वातावरण ले जाने से कालिदास की उदासीनता और बेचैनी कम हो जायेगी।

मल्लिका के घर का परिसंस्कार वह अपने 'घर' को बचाने के लिए करना चाहती है। अपराध-बोध एवं हीनता-ग्रंथि से ग्रस्त होने के कारण वह कालिदास पर अपने प्रभाव की घोषणा बार-बार करती है :

"साहित्य उनके जीवन का पहला चरण था। अब वे दूसरे चरण में पहुँच चुके हैं। मेरा अधिक समय इसी आयास में बीतता है कि उनका बढ़ा हुआ चरण पीछे न हट जाये। .. .. बहुत परिश्रम पड़ता है इसमें।"[12]

कालिदास के ऊपर अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए ही वह मल्लिका से उज्जयिनी के किसी राजकर्मचारी से विवाह कर लेने का हठ करती है। आत्ममुग्धा - प्रियंगुमंजरी अपने अधिकार और प्रभुता के सामने मल्लिका को छोटा दिखाना चाहती थी किन्तु मल्लिका की सादगी ने अंततः उसे ही बौना सिद्ध कर दिया। एक कुलीन राजकन्या के रूप में प्रियंगुमंजरी स्त्री को सिर्फ 'त्वचा' तक ही सीमित अर्थ में ग्रहण करती है। यही कारण है कि स्त्री अस्मिता का कोई महत्वपूर्ण आयाम उसके चरित्र में नहीं मिलता।

रंगिणी-संगिणी राज्याश्रय प्राप्त ऐसी प्रतिभावान नारियाँ हैं जिनकी प्रतिभा एवं कला-साधना राजकीय सम्मान एवं साधन उपलब्ध होने पर अब लगभग चुक सी गई है। वे अब प्रतिभावान हैं नहीं किन्तु फिर भी राज्याश्रय के लालच में कुछ नया एवं अद्‌भुत खोजने का, रचने का ढोंग करती है। उनकी कला अब कुंद हो चुकी है किन्तु फिर भी वे राजकीय सम्मान के लोभ में कुछ असाधारण खोजने के अपने दावे से हाथ नहीं धोना चाहतीं। स्त्री आकांक्षा के खोखले, दंभी और झूठे रूप का ये प्रतिनिधित्व करती हैं। राज्याश्रय कभी-कभी कलाकार को कितना कुंद कर देता है इसका साक्षात प्रमाण इनका व्यक्तित्व है।

ऐसा कहा जाता है कि राकेश का स्त्री संबंधी दृष्टिकोण मध्ययुगीन है, किन्तु 'आषाढ़ का एक दिन' की अंबिका की प्रखरता और मल्लिका का सौम्य लेकिन दृढ़ व्यक्तित्व इस धारणा का खंडन करता है। राकेश के दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' का केन्द्रीय चरित्र 'सुन्दरी' 'मल्लिका' का विस्तारित रूप प्रतीत होती है। 'सुन्दरी' के संपूर्ण व्यक्तित्व में अपनी सत्ता एवं अधिकार का बोध तथा सौंदर्य का दर्प कूट-कूटकर भरा हुआ है। सुंदरी के बहु आयामी एवं तेजस्वी व्यक्तित्व का परिचय हमें संपूर्ण नाटक में देखने को मिलता है। 'नंद' नाटक का केन्द्रीय पात्र होते हुए भी 'सुन्दरी' की तरह प्राणवान प्रतीत नहीं होता एवं सुन्दरी का प्रभाव नाटक पर आद्यंत छाया हुआ रहता है। 'नंद' पर 'सुन्दरी' का प्रभाव किसी यक्षिणी से कम नहीं है और इस बात की पुष्टि नंद के निम्नलिखित संवादों से सहज ही हो जाती है। :

"सुंदरी : (कटोरी लेकर रखती हुई) पता है लोग क्या कहते हैं ?

नंद : क्या कहते हैं ?

सुंदरी : कहते हैं, आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।

नंद : इसमें झूठ क्या है ?

सुंदरी : झूठ नहीं है ?

नंद : यक्षिणी हो या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकता पर मानवी तुम नहीं हो। (स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखता हुआ) ऐसा रूप मानवी का नहीं होता।"[13]

"नंद : एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।

सुंदरी हाथ रोककर उसकी ओर देखती है।

सुंदरी : किस बात का ?

नंद : कि मैं किस पर अधिक मुग्ध हूँ .. .. .. तुम्हारी सुन्दरता पर या तुम्हारी चातुरी पर ? "[14]

x x x x x

"सुंदरी : अतिथियों के आने तक शयन कक्ष में विश्राम करना चाहेंगे ?

नंद : (जैसे कुछ चौंककर) अतिथियों के आने तक ? .. .. .. नहीं । .. .. ..

तुमने पहले ही कह दिया था कि आज विश्राम नहीं होगा।

सुंदरी : मैंने कहा तो था, पर तब यह कहाँ सोचा था कि .. .. ..

नंद : तुम्हारी कही हुई बात तुम्हारे लिए उतना महत्व नहीं रखती जितना मेरे लिए। (उसके कंधों पर थोड़ा झुककर) यह तुम नहीं जानतीं।"[15]

नंद और सुंदरी के उपरोक्त संवाद यह स्पष्ट करते हैं कि सुन्दरी के इस चुंबकीय प्रभाव का कारण सिर्फ सौंदर्य नहीं, बल्कि वे सब बुनियादी गुण हैं जिसकी आकांक्षा पुरूष एक स्त्री से करता है। सुन्दरी महज एक रूपगर्विता नारी नहीं है, बल्कि उसके व्यक्तित्व में स्नेह, ओज, गरिमा, वाक् चातुर्य, बुद्धि कौशल, दया आदि अनेक गुणों की छवियाँ विद्यमान हैं। उसका व्यक्तित्व इन्द्रधनुष की तरह विविध रंगों की छटाओं से निर्मित है। आज की नारी की तरह वह अपनी आकांक्षाओं को खुलकर अभिव्यक्त कर सकती है। वह इच्छाओं का दमन कर एवं घुटकर जीने में विश्वास नहीं रखती, बल्कि जीवन को पूरे उल्लास एवं आनंद के साथ जीना चाहती है। जीवन के संपूर्ण उपभोग को लेकर सुन्दरी की अपनी एक निश्चित जीवनदृष्टि है और इस संबंध में उसके मन में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। उसकी यह संशयरहित भावना और देवी यशोधरा से स्पर्धा भाव उक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :

"सुन्दरी : क्यों ? यह सच नहीं ? राजकुमार सिद्धार्थ क्यों चुपचाप एक रात घर से निकल पड़े ? बात बहुत साधारण सी है, अलका ! नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।

अलका : (पल भर चुप रहकर)

तो आप यह कहना चाहती हैं कि .. .. ..।

सुन्दरी : कहना चाहने की बात नहीं, अलका। मैं एक छोटी सी सच्चाई तुझे बतला रही हूँ। लोग कहते हैं कि गौतम-बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूँ कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है ? और ऐसी कामना किसी के मन में क्यों जगती है ?"[16]

इस उद्धरण से यह साफ ज़ाहिर होता है कि सुन्दरी 'कामना' को मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति के रूप में देखती है और अस्वीकृति या निरोध को मनुष्य की सहज प्रवृत्ति के प्रतिकूल मानती है। जीवन को अंतिम क्षण तक जीने की यह ललक उसकी जीवनेच्छा (Libido) को साकार करती है। यशोधरा के दीक्षांत समारोह से पूर्व सुन्दरी सोची-समझी रणनीति के तहत अपनी व्यवस्था, बुद्धिकौशल, परिचालन क्षमता एवं गृहसज्जा की क्षमता का परिचय देती हुई कामोत्सव का आयोजन करती है किन्तु इस उत्सव में आर्य मैत्रेय को छोड़कर कोई भी अतिथि शामिल नहीं होता। अतिथियों का न आना और अपने कामोत्सव के आयोजन को विफल होते देखना सुन्दरी को कदापि मंजूर नहीं। अपनी कामनाओं का स्थगन या दमन उसे किसी शर्त पर स्वीकार नहीं। उसकी कामेच्छा उसकी जीवनेच्छा का ही विस्तारित रूप है :

"सुन्दरी : (मदिराकोष्ठ की ओर जाती हुई)

कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय ! मैं अपनी आज की कामना कल के लिए टाल रखूँ .. .. क्यों ? मेरी कामना मेरे अंतर की है। मेरे अंतर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है। बाहर का आयोजन उसके लिए उतना महत्व नही रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं ।"[17]

सुन्दरी के उपरोक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि वह वर्तमान में जीनेवाली नारी है और अपनी कामना की पूर्ति के लिए वह दूसरों पर निर्भर नहीं है। उसके कामोत्सव में लोग अनुरोध करने से आयें, यह उसके स्वाभिमान के खिलाफ प्रतीत होता है। अपने पति नंद द्वारा अतिथियों को स्वयं बुलाने के बावजूद उनका कामोत्सव में शामिल न होना सुंदरी के स्वाभिमान को आहत करता है और सुन्दरी के आहत स्वाभिमान की अभिव्यक्ति निम्नलिखित संवाद में साकार हो उठती है :

"मैत्रेय : मैं आज्ञा चाहूँगा, कुमार ! यहाँ आकर और रूककर मैं राजकुमारी के उद्वेग का कारण नहीं बनना चाहता।

नंद : ठहरो मैत्रेय ! तुम्हें सोचना चाहिए कि सुंदरी के उद्वेग का वास्तविक कारण .. ..।

सुन्दरी : (आपे से बाहर होकर)

अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ। और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जाने दीजिए। कह दीजिए कि जिनके यहाँ से होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जायें। उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतीक्षा में न रहें। वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं।"[18]

उपरोक्त संवाद इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि सुन्दरी अपने जीवन में किसी का अनधिकार हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करती । वह अपनी राह स्वयं चुनती है और उसका यह चुनाव बाहरी हलचलों से प्रभावित नहीं होता। सुन्दरी को नंद के ऊपर अपने प्रभाव एवं नंद के प्रेम में गहरी आस्था है। यही कारण है कि वह स्वयं नंद को गौतम बुद्ध के पास जाने की इज़ाजत देती है क्योंकि उसे विश्वास है कि नंद उसके पास वापस अवश्य आएगा। सुन्दरी का यह आत्म विश्वास जहाँ एक ओर उसके व्यक्तित्व की दृढ़ता को रेखांकित करता है, वहीं दूसरी ओर उसके प्रखर स्वाभिमान को भी अभिव्यक्त करता है :

"सुन्दरी : मैंने कहा है अलका, मैं अपने स्वाभिमान को और नहीं छल सकती। नदी-तट तक आने-जाने में जितना समय लगता है, उसके अतिरिक्त घड़ी भर समय और .. .. यह उन्होंने कहा था। मैंने विश्वास से उन्हें भेजा था। चाहती तो उस समय उन्हें रोक भी सकती थी। परन्तु रोकना मैंने नहीं चाहा ? .. .. ..

(झूले के पास जाकर एक हाथ उस पर रख लेती है) क्योंकि रोकना दुर्बलता होती। मन में कहीं यह साल बनी रहती कि मैंने उन्हें नहीं जाने दिया कि उसका अर्थ होता कि उन पर और अपने पर मुझे विश्वास नहीं था।"[19]

सुंदरी का उपरोक्त संवाद अपने ऊपर गहरे विश्वास की भावना को व्यक्त करता है। सुन्दरी नन्द को तथागत के पास जाने से इसलिए नहीं रोकती क्योंकि वह नंद को चुनाव के अधिकार से वंचित कर नारी सुलभ दुर्बलता का परिचय नहीं देना चाहती। उसे मात्र अपने रूप सौंदर्य पर ही नहीं, बल्कि, संबंध की गहनता पर भी अगाध विश्वास है। यही कारण है कि जब श्वेतांग सुन्दरी को सूचित करता है कि नंद अपने केशों की खोज में गए हैं क्योंकि उनकी पत्नी को उन केशों की आवश्यकता है, तो यह सुनकर सुन्दरी स्तंभित रह जाती है। नंद के साथ अपने संबंध पर सुन्दरी को गहरी आस्था थी, लेकिन वही नंद यह समझ कर अपने केश वापस लेने के लिए धर से चला जाता है कि उसे मुंडित रूप में देखना सुन्दरी को सह्य नहीं हुआ। नंद का यह बर्ताव सुन्दरी के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाता है क्योंकि उसका क्षोभ नंद के केशहीन रूप के कारण नहीं, बल्कि इस कारण से है कि उसने सुंदरी के विश्वास को खंडित किया है। इसलिए आत्मप्रवंचना की इस स्थिति में सुंदरी कहती है :

"इतना ही तो समझ पाते हैं यह लोग। .. .. .. बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है।'

.. .. .. इससे अधिक कभी समझ भी नहीं पायेंगे ये .. .. .. कभी नहीं समझ पायेंगे।"[20]

प्रखर आत्मसम्मान एवं दृढ़ निश्चय से युक्त होने के साथ-साथ सुन्दरी के व्यक्तित्व के कई अन्य आयाम भी हैं जो उसे संवेदनशील नारी के रूप में रेखांकित करते हैं। प्रकृति के साथ गहरा लगाव, राजहंसों के जोड़ो के प्रति अनुराग एवं अपनी दासी अलका के प्रति स्नेह उसके व्यक्तित्व के कोमल पक्ष को उजागर करते हैं। अलका के कहने पर न केवल वह श्यामांग की धृष्टता (कमलताल में राजहंसों के जोड़े पर पत्थर फेंकना) को माफ करती है बल्कि अलका की देखरेख में उसके समुचित उपचार की व्यवस्था भी करती है। इस प्रकार 'लहरों के राजहंस' में अभिव्यक्त सुन्दरी का चरित्र जीवन को उसकी संपूर्णता के साथ ग्रहण करने वाली एक ऐसी नारी का है जो हर चुनौती को स्वीकार करती है और बिना किसी कुंठा के अपनी कामनाओं को अभिव्यक्त करती है। आत्मविश्वास में पगी यह दृढ़निश्चयी स्त्री कोमल भी है एवं कठोर भी, सौम्य भी है निरंकुश भी, आत्ममुग्धा भी है और अपनी सत्ता के बोध से परिचित भी। उसके उस बहुआयामी व्यक्तित्व में मानवी और यक्षिणी का अभूतपूर्व सामंजस्य है जिसके जादू से वह अपने आसपास के कार्यव्यापर को संचालित करती है। उसका यह बहुआयामी व्यक्तित्व शेक्सपियर के प्रसिद्ध नारी चरित्र क्लियोपेट्रा की याद दिलाता है जिसके बारे में शेक्सपियर ने लिखा है,

"क्लियोपेट्रा के असीम सौंदर्य को न समय धुँधला कर सकता है, न परंपराऐं बासी। अन्य स्त्रियाँ जहाँ क्षुधा शांत करती हैं, वहीं क्लियोपेट्रा का सौंदर्य जितना भूख को तृप्त करता है उतना ही भड़काता भी है।"[21]

सुन्दरी के चरित्र में भी ऐसी ही विविधता है जो उसे हिन्दी नाट्य साहित्य के एक अभूतपूर्व नारी पात्र के रूप में स्थापित करती है।

'लहरों के राजहंस' का एक अन्य नारी पात्र है : अलका, जो सुन्दरी की सखी भी है और दासी भी। वह श्यामांग के प्रति अनुरक्त है और सुन्दरी के प्रति समर्पित और अपनी दोनों ही भूमिकाओं में वह प्रभावी जान पड़ती है। वह विनम्र है किन्तु चाटुकार नहीं और एक सच्ची सखी की तरह हमेशा सुन्दरी को सही मार्ग दिखाती है। यद्यपि नाटककार ने इस चरित्र की सूक्ष्म रेखाओं का अंकन नहीं किया है तथा नाटक में उसे एक गौण पात्र के रूप में ही स्थान दिया है, तथापि अपनी संपूर्णता में वह पाठकों एवं दर्शकों को प्रभावित अवश्य करती है। सुन्दरी एवं अलका का साहचर्य भी उनके संबंध की गहनता एवं स्त्री की संवेदनशीलता एवं आपसी समझ की भावना को दर्शाता है। दोनों सखियाँ अपने आत्मसम्मान की रक्षा भी करती हैं एवं एक दूसरे की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाती। यद्यपि दोनों का रिश्ता बराबरी का नहीं है

किन्तु फिर भी वर्ग-भेद कभी उनकी दोस्ती में आड़े नहीं आता। 'लहरों के राजहंस' के ये दोनों ही स्त्री पात्र स्त्री आकांक्षा को प्रतिध्वनित करते हैं।

अपने तीसरे पूर्ण नाटक 'आधे-अधूरे' में राकेश ने आधुनिक नारी की आकांक्षा को 'सावित्री' के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। सावित्री के विषय में राकेश ने लिखा है कि उसकी उम्र चालीस के लगभग है, पर चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष है। इससे स्पष्ट है कि समकालीन जीवन के दबावों से संघर्ष करती हुई इस स्त्री ने अभी तक जीवन से हार नहीं मानी है। एक ओर वह अपनी अस्मिता के प्रति सचेत है तो दूसरी ओर अपने परिवार के प्रति दायित्व का भी पूरा निर्वाह करती है। इन नाटक में सावित्री अपने को 'वस्तु' के रूप में परिभाषित होने देने का निषेध करती है एवं इस्तेमाल होने की मानसिकता के खिलाफ संघर्ष करती है। इब्सन की डोरा की तरह ही वह भी स्त्री अस्मिता से जुड़े प्रश्नों का हल खोजती प्रतीत होती है। नाटक के प्रथम अंक में सावित्री के जीवन की घुटन एवं खीज़ सिर्फ उसकी व्यक्तिगत भावनाएँ नहीं हैं, बल्कि आज की कामकाज़ी महिला के जीवन की स्थिति को ही दर्शाती हैं। इस प्रकार सावित्री स्वातंत्र्योत्तर भारत की 'कैरियर वुमन' के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में सामने आती है। अपने जीवन की आकांक्षाओं को सावित्री अपने पति और घर के माध्यम से मूर्त रूप देना चाहती है और इसलिए महेन्द्रनाथ को वह 'संपूर्ण पुरुष' के रूप में देखना चाहती है ! लेकिन ऐसा नहीं हो पाया और सावित्री की जिजीविषा और चाहत व्यंग्य और तल्खी के रूप में परिवर्तित हो गई। न तो वह महेन्द्रनाथ जैसे आधे-अधूरे पति के साथ संतुष्ट हो पाती है और न ही उससे पूरी तरह मुक्त हो पाती है। अभाव की जिन्दगी सावित्री को कभी रास नहीं आयी और निरंतर क्षीण होती हुई अपने परिवार की आय की वृद्धि का प्रयास वह सदैव करती रही। अशोक की नौकरी लगाने की चेष्टा के तहत वह सिंघानिया को अपने घर पर निमंत्रित करती है, जिससे एक ओर परिवार में कलह पैदा होती है एवं दूसरी ओर अशोक भी इस प्रयास की सराहना नहीं करता। आर्थिक रूप से स्वंतत्र होने के कारण उसके स्वर में प्रभुता स्पष्ट झलकती है। संबंधहीनता, रिश्तों में ठंडापन एवं कड़वाहट सिर्फ सावित्री एवं महेन्द्रनाथ के संबंध तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका असर परिवार के हर सदस्य के ऊपर दिखाई पड़ता है।

'इतनी गर्द भरी रहती है हर वक्त इस घर में ! ' जैसे वाक्य दर्शाते हैं कि सावित्री और महेन्द्रनाथ के घर में रिश्ते भी गर्द की चादर में ढके हुए हैं। परंपरा और आधुनिकता जैसे प्रश्न सावित्री के सामने प्रश्नचिन्ह बनकर खड़े रहते हैं और वह निर्णय लेने से कतराती है। दरअसल आधुनिकता जब पुरूषों में आती है तब वह चर्चा एवं विवाद का विषय नहीं बनती लेकिन स्त्रियों से यह अपेक्षा सदा रहती है कि वह परंपरा की वाहक बनेंगी, यही कारण है कि सावित्री घर की आर्थिक एवं पारिवारिक जिम्मेदारी उठाते-उठाते खुद यंत्रवत जीवन जीने को विवश होती है और 'घर' की दहलीज पार करने से हिचकिचाती है। परंपरा में स्त्रियों ने औरतों को जो जिम्मेदारियाँ सौंपी थीं, कमोबेश आज भी उनके हिस्से में वे सब जिम्मेदारियाँ हैं। घर

- गृहस्थी - बच्चे - ये सब पहले भी औरतों की बुनियादी जिम्मेदारी थीं, आज भी है, उनकी पारंपरिक भूमिका में कोई काट-छाँट नहीं हुई है लेकिन आधुनिक जीवन शैली ने उन पर कुछ और जिम्मेदारियाँ भी लाद दी हैं। सावित्री भी अपनी पारंपरिक एवं आधुनिक दोनों भूमिकाओं के पाटों में पिसती और घिसती नज़र आती है। वह चाह कर भी आसानी से जीवन की कड़वी सच्चाईयों से भाग नहीं पाती। अंततः जब वह पत्नी और माँ से हटकर सिर्फ स्त्री बनने का जोखिम उठाती है तो बहुत देर हो चुकी है। सावित्री में दांपत्य जीवन के संस्कार अभी भी शेष हैं यही कारण है कि लक्ष्मणरेखा को पार करने में वह हिचकती है। मर्यादाओं के प्रति कटु होने के उपरांत भी उसमें झिझक शेष है। सावित्री का परिसंस्कार कुक्कू में कितनी मुश्किल से हो पाता है इसका बहुत ही सुन्दर दृश्य-बिम्ब राकेश ने प्रस्तुत किया है :

"बड़ी लड़की : और सोच लेती थोड़ा .. .. ।

स्त्री : कब तक और ?

(गले की माला को ऊँगली में लपेटने लगती है, झटके से माला टूट जाती है। परेशान होकर वह माला को उतार देती है और जाकर कबर्ड से दूसरी माला निकाल लेती है।)

साल पर साल .. .. .. इसका यह हो जाय, उसका वह हो जाय !

मालाओं का डब्बा रखकर कबर्ड को बन्द करना चाहती है। पर बीच की चीज़ों के अव्यवस्थित हो जाने से कबर्ड ठीक से बन्द नहीं होता।

एक दिन .. .. .. दूसरा दिन !

नहीं ही बन्द होता, तो उसे पूरा खोलकर झटके से बंद करती है।

एक दिन .. .. .. दूसरा साल

x x x

अब भी सोचूं थोड़ा !

कब तक .. .. .. क्यों !

x x x

घर दफ्तर .. .. .. घर दफ्तर !

x x x

सोचो .. .. .. सोचो !

x x x

चख चख .. .. किट किट .. .. चख चख .. .. किट किट .. ! क्या सोचो ?

X X X

कुछ मत सोचो !

X X X

होने दो जो होता है।"[22]

परंपरागत नारी से आधुनिक नारी के इस संक्रमण का ऐसा दृश्यांकन दुर्लभ है। राकेश की स्थापना थी कि आर्थिक आज़ादी ही नारी की स्वतंत्रता का मूल है। जीवन स्थितियों की जटिलता ही पारिवारिक जटिल संबंध विधान को जन्म देती है और सोचना मनुष्य को अन्ततः उलझाता ही है, अतः सावित्री अपनी सोच से मुक्ति चाहती है अपने लिए खुला आकाश चाहती है - निर्द्वन्द्व होकर सिर्फ अपने लिए जीना चाहती है अपने लिए तय किए गए, ओढ़े हुए अपने तमाम रिश्तों से मुक्ति चाहती है। जगमोहन उसके लिए एक आलम्बन है, वह साधन है जो शायद उसे इस दम-घोंटू वातावरण से मुक्त करा सके। इस पूरे दृश्य में सावित्री अत्यंत विश्वसनीय प्रतीत होती है। सावित्री में जिजीविषा अभी शेष है वह आधुनिक है एवं अपने लिए जीना चाहती है। जब वह दूसरों के लिए कुछ करती है तब भी अंततः अपने अहं की पुष्टि करती है। जब अशोक उसके द्वारा जिम्मेदारी वहन करने पर भी उससे रूष्ट रहता है और उसके त्याग को नकारता है तब वह विद्रोह कर उठती है :

"तो ठीक है । आज से मैं सिर्फ अपनी जिन्दगी को देखूँगी .. .. तुम लोग अपनी -अपनी जिन्दगी को खुद देख लेना। X X X मेरे पास अब बहुत साल नहीं है जीने का। पर जितने हैं, उन्हें मैं इस तरह और निभाते हुए नहीं काटूँगी। मेरे करने से जो कुछ हो सकता था इस घर का, हो चुका आज तक, मेरी तरफ से यह अंत है उसका .. .. । निश्चित अंत।"[23]

आधे-अधूरे में दूसरा स्त्री-चरित्र है - बिन्नी, सावित्री की बेटी। बिन्नी एक तरह से अपनी माँ का ऐक्सटेंशन ही है। एक वही है जो सावित्री के प्रति सहानुभूति रखती है। सारे नाटक में आद्योपांत बड़ी लड़की स्टेज पर रहती है। उसे लगता है यदि यह घर बच गया तो उसका घर भी बच जाएगा। पिता, अशोक, किन्नी सभी घर से बाहर रहना चाहते हैं। एक बिन्नी ही है जो घर के प्रति चिंतित है। बिन्नी ऐसे माहौल में बड़ी हुई जिसमें कटुता-रिक्तता, तल्खी और अनमनापन था। उसने अपने माता-पिता के बीच संबंध को टूटते, बिखरते देखा था, उनको वहशियाना अंदाज़ में लड़ते-झगड़ते देखा था। उसका 'घर' तो सिर्फ उसके लिए मकान बन कर रह गया और वह किसी न किसी तरह इस माहौल से छुटकारा पाना चाहती थी। उसे पहला मौका मिला - मनोज की शक्ल में और वह इस घुटनभरी जिंदगी से भाग निकली, लेकिन कुछ ऐसा था जो वह इस घर से अपने साथ ले गई थी जिसने उसे सामान्य रूप से जीवन जीने नहीं दिया और वह बार-बार अपने घर लौटती - कि शायद उसे वह चीज़ मिल जाये जिसे लेकर मनोज उसे लांछित करता है। अपने भीतर ढेर-सा गुबार लिए वह बस इन्तज़ार में रहती कि कोई बहाना मिले कि वह उसे बाहर निकाल

सके। वह अपने घर लौटती है कि शायद वह उस कारण को ढूँढ़ पाये जिसकी वज़ह से उसका घर भी बन नहीं पा रहा। अपनी माँ के साथ अंतरंग क्षणों में वह कहती है :

"मेरा अपना घर ! .. .. हाँ। और मैं आती हूँ कि एक बार फिर खोजने की कोशिश कर देखूँ कि क्या चीज़ है वह इस घर में जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है ! (लगभग टूटते स्वर में) तुम बता सकती हो ममा, कि क्या चीज़ है वह ? और कहाँ है वह ? इस घर के खिड़कियों-दरवाजों में ? छत में? दीवारों में ? तुममें ? डैडी में ? किन्नी में ? अशोक में ? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज़ जो वह कहता है कि मैं इस घर से अपने अन्दर लेकर आयी हूँ .. .. "[24]

बड़ी लड़की भी अपने आप को बहुत बेगाना महसूस करती है। वह निरंतर उस हवा में जीती है जिसमें हर व्यक्ति दूसरे से कटा हुआ है। वह भी इस दमघोटूं वातावरण से निकास की तलाश करती प्रतीत होती है।

छोटी लड़की किन्नी घर में सभी के स्नेह से वंचित, देख-रेख के अभाव के फलस्वरूप उद्दंड हो गयी है और बहुत सी ऐसी बातों और कामों में दिलचस्पी लेने लगी है जो उसे नहीं करनी चाहिए। उसके विकास में घर नहीं मिला जबकि तलाश उसे भी 'घर' की ही है।

(iii) स्त्री-पुरुष संबंध :

स्त्री-पुरूष का रिश्ता एक ऐसा रिश्ता है, जो प्राकृतिक भी है और सामाजिक भी। इसमें आकर्षण भी है और दुराव भी। लगाव और तनाव की यह द्वन्द्वात्मक स्थिति रचनात्मक भी है और ध्वंसात्मक भी। संभवतः इसी कारण आदम और हौवा के जमाने से कला और साहित्य का केन्द्र बन्दु यह स्वाभाविक एवं नैसर्गिक संबंध रहा है, जिसकी बुनियाद पर ही सृष्टि का आरंभ और विकास संभव हुआ। इस विषय में कार्ल मार्क्स ने लिखा है :

"व्यक्ति का व्यक्ति से प्रत्यक्ष, प्राकृतिक और जरुरी रिश्ता स्त्री से पुरूष का रिश्ता है। इस प्राकृतिक प्रजातीय रिश्ते में प्रकृति से मनुष्य का रिश्ता तत्काल मनुष्य से उसका रिश्ता बन जाता है। ठीक उसी तरह जैसे मनुष्य से उसका रिश्ता तत्काल प्रकृति से उसका रिश्ता बन जाता है - जिसे हम एक तथ्य की तरह लक्ष्य कर सकते हैं कि मानव सत्व किस हद तक मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो गया है या प्रकृति किस हद तक मनुष्य का मानव सत्व हो गयी है। अतः इस रिश्ते से हम मानव विकास के समग्र स्तर की परख भी कर सकते हैं।"[25]

उस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि यह रिश्ता मानव-इतिहास के क्रमिक विकास को परिभाषित करता है। स्त्री-पुरूष संबंधों के रचाव में जितना सुख है, उतनी ही पीड़ा।

राकेश के लिए स्त्री एक जादुई शब्द है जो उनके समस्त कथा-साहित्य को आकार देती है। विषय कोई भी हो - ऐतिहासिक या समकालीन, केन्द्रीय चरित्र के रूप में स्त्री ही उभरती है। राकेश ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया स्त्री-पुरूष संबंध के इतिहास को फिर-फिर दोहराया है और जब कभी उससे हटकर लिखना चाहा तो रचना प्राणवान नहीं हुई। स्त्री-पुरूष के संबंध के विषय में उन्होंने लिखा है कि :

"प्रेम तिकोन - एक स्त्री - दो पुरूष, दो स्त्रियाँ - एक पुरूष, एक स्त्री - एक पुरूष और एक अदृश्य कुछ जो खलनायक की भूमिका में आ खड़ा होता है . .. . यह एक ही तरह की कहानी न जाने कितनी बार और कितने हाथों से लिखी जा चुकी है। फिर भी इस विषय की नवीनता आज तक समाप्त नहीं हुई।"[26]

'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'आधे-अधूरे' नाटक में यह प्रेम तिकोन की स्थिति सहज रूप से लक्षित की जा सकती है। आषाढ़ का एक दिन में स्त्री-पुरष संबंधों के विविध स्तरों का उद्घाटन किया गया है। इसमें मल्लिका का प्रेयसी रूप है, जो त्याग और समर्पण में ही जीवन की सार्थकता समझती है। स्वयं मिटकर कालिदास को प्रसिद्धि के शिखर तक ले जाना ही उसका ध्येय है। यहाँ वह कामायनी की श्रद्धा से मेल खाती हैं :

"समर्पण लो - सेवा का सार,

सजल - संसृति का यह पतवार,

आज से यह जीवन उत्सर्ग,

उसी पद-तल में विगत-विकार" [27]

मल्लिका और कालिदास का यह संबंध बराबरी पर आधारित नहीं है। कालिदास मल्लिका का उपयोग एक उपादान के रूप में करता है, अपनी रचनात्मकता के शिखर पर पहुँचने के लिए इस बिन्दु पर मल्लिका कनुप्रिया की राधा से मेल खाती है। उसकी नियति भी बहुत हद तक राधा जैसी ही है।

"वह, आज कितना, कितना कितना महान हो गया है

लेकिन मैं कुछ नहीं सोच पाती

सिर्फ -

जहाँ तुमने मुझे अमित प्यार दिया था,

वहीं बैठकर कंकड़, पत्ते, तिनके, टुकड़े चुनती रहती हूँ

तुम्हारे महान बनने में,

क्या मेरा कुछ टूटकर बिखर गया है कनु !"[28]

फिर भी मल्लिका अपने जीवन को सार्थक मानती हैं, पर कालिदास के संन्यास लेने की चर्चा उसे तोड़ देती है। वर्षों से तिल-तिलकर गलती हुई स्त्री का क्षोभ मल्लिका के निम्नलिखित संवाद में फूट पड़ता है :

"मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परंतु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे, और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, और आज तुम मेरे जीवन को इस तरह निरर्थक कर दोगे ? क्या जीवन को तुम मेरी दृष्टि से देख सकते हो ? जानते हो मेरे जीवन के ये वर्ष कैसे व्यतीत हुए हैं ? मैंने क्या-क्या देखा है ? क्या से क्या हुई हूँ ? इस जीव को देखते हो? पहचान सकते हो ? यह मल्लिका है जो धीरे धीरे बड़ी हो रही है और माँ के स्थान पर अब मैं उसकी देखभाल करती हूँ। .. .. यह मेरे अभाव की संतान है। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परंतु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी-कितनी आकृतियाँ हैं। जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं केवल विशेषण हूँ। .. .. व्यवसायी कहते थे उज्जयिनी में अपवाद है कि तुम्हारा बहुत-सा समय वारांगनाओं के साथ सहवास में व्यतीत होता है। परंतु तुमने वारांगना का यह रूप भी देखा है ? "[29]

इन पंक्तियों में जहाँ एक ओर मल्लिका के चरित्र की दृढ़ता उद्घाटित होती है वहीं कालिदास एक कमज़ोर व्यक्ति के रूप में उभरता है। प्रेयसी और प्रेमी के इस संबंध में भी स्त्री ही छली जाती है। दूसरी ओर कालिदास प्रियंगुमंजरी के संबंध में दर्शकों की सहानुभूति प्रियंगुमंजरी को ही मिलती है क्योंकि कालिदास उसके साथ भी न्याय नहीं करता जबकि वह अपने पत्नी होने के दायित्व का निर्वाह पूरी ईमानदारी से करती है और कालिदास को प्रसन्न रखने का हर संभव प्रयास करती है। अतः यह स्पष्ट है कि पत्नी एवं प्रेयसी किसी के साथ कालिदास न्याय नहीं कर पाता और दोनों रूपों में स्त्री की दासता के तंतु प्रच्छन्न रूप से मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों संबंध गैर-बराबरी पर आधारित हैं और उनमें स्त्री को उसका जायज हक नहीं मिला। इस नाटक में स्त्री-पुरूष के संबंध का एक अन्य आयाम भी देखने को मिलता है - मल्लिका और विलोम के संबंध में। यह संबंध चूँकि मल्लिका की मजबूरी पर आधारित है, अतः स्वाभाविक रूप से इसमें पति-पत्नी के संबंधों की सहजता और ऊष्मा नहीं मिलती। एकतरफा होने के कारण इस संबंध का समुचित विकास न हो सकता था और न ही हुआ।

अपने दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' में राकेश ने स्त्री-पुरूष संबंध के दो भिन्न आयामों को अभिव्यक्त किया है। एक ओर नंद और सुंदरी का उद्दाम मांसल प्रेम है, जो देहराग की स्वीकृति और कामनाओं की पूर्ति पर आधारित है, तो दूसरी ओर

अलका और श्यामांग के आदर्श और निश्छल प्रेम का भी संकेत मिलता है। नंद और सुंदरी का प्रेम स्त्री के दुर्निवार आकर्षण और वाक्-चातुर्य पर आधारित है।

देहराग पर आधारित यह प्रेम उद्दाम और प्रखर होने के बावजूद अपने आप में पर्याप्त नहीं है। यही कारण है कि नंद को सिर्फ सुन्दरी का आकर्षण संतुष्ट नहीं कर पाता और जीवन की सार्थकता की तलाश में वह बुद्ध की ओर आकृष्ट होता है। स्त्री-पुरूष संबंध में मौजूद अपर्याप्तता को श्रीकांत वर्मा ने इन पंक्तियों के माध्यम से अत्यंत सक्षम ढंग से व्यक्त किया है :

"सच है तुम्हारे बिना जीवन अपंग है

लेकिन ! क्यों लगता है मुझे

प्रेम अकेले होने का ही

एक और ढंग है ।"[30]

श्रीकांत वर्मा की इन पंक्तियों में नंद का जीवन-यथार्थ पूरी तरह मुखर हो उठता है। नंद के लिए सुंदरी का यह प्रेम अनिवार्य है जिसके बिना उसके जीवन की गति अवरूद्ध जान पड़ती है। लेकिन यह प्रेम उसे अकेला भी करता है और अपनी मुक्ति की तलाश के लिए प्रेरित भी। नंद की स्थिति उस त्रिशंकु की तरह है जो मुक्ति और स्त्री के आकर्षण के दो ध्रुवों के बीच स्वयं को नितांत असहाय और अकेला महसूस करता है। स्त्री और मुक्ति की चाह के बीच का यह द्वन्द्वात्मक संबंध नंद की दुविधा का मूल आधार है। नंद के मन में अंत तक अपनी पत्नी के प्रति अनुराग शेष है और लौकिक प्रेम के इस आकर्षण को नाटककार ने नंद के इस संवाद के माध्यम से अत्यंत सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है :

"सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पाँव का एक स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूँद की एक अकुलाहट .. .. परंतु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है ? आकाश में कहीं लटकते हुए नीले-काले बिन्दु - कोरे सिद्धान्तों के - वे अधिक स्थाई , अधिक सत्य कैसे हैं ? पर मैं पूछता हूँ कि जब होने-न-होने में कोई अंतर नहीं है, तो मेरे केश क्यों कटवा दिये ? कटवा ही दिए तो उससे अंतर क्या पड़ता है ? कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएंगे ? अंतर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखें बदल जाती। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है।"[31]

नंद और सुंदरी के प्रेम-संबंध में अनुराग और आकर्षण होते हुए भी उसमें जीवन की गहरी समझ का अभाव प्रतीत होता है। एक दूसरे को न समझ पाने की पीड़ा नंद में भी है और सुंदरी में भी। मुंडित केशवाले नंद को देखकर सुंदरी को गहरा धक्का लगता है क्योंकि उसके लिए केश का न रहना बुद्ध के प्रभाव का प्रतीक है। इसी प्रकार नंद भी सुन्दरी की प्रतिक्रिया को समझे बिना, केशों की खोज में पुनः

निकल पड़ता है। इसके कारण वह स्वयं को आहत महसूस करती है क्योंकि उसे लगता है कि नंद ने अब तक उसे समझा ही नहीं - 'इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग ! .. .. बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है।' इस प्रकार इस नाटक में स्त्री-पुरूष संबंध की मूल समस्या दोनों के अहं की टकराहट की है एवं एक-दूसरे को अपनी बात समझा सकने की असमर्थता की है। सम्प्रेषण न कर पाने की पीड़ा स्त्री की भी है और पुरूष की भी।

स्त्री-पुरूष संबंधों की जो यात्रा मोहन राकेश ने 'आषाढ़ के एक दिन' से शुरू की थी उसकी चरम परिणति उनकी तीसरी महत्वपूर्ण कृति 'आधे-अधूरे' में परिलक्षित होती है। इस नाट्य-कृति में स्त्री-पुरूष के संबंध के अन्तर्गत आनंद, प्रेम, पूर्णता, समर्पण आदि का चित्रण बहुत कम हुआ है। इसमें अधिकांशतः संबंधों के बीच की घुटन, ऊब, तनाव, मनमुटाव एवं अलगाव को ही मुख्य रूप से दर्शाया गया है। इस नाटक के पात्र सुख या आनंद की प्राप्ति नहीं चाहते, ऐसा नहीं है परंतु न तो वह सुख पाते हैं, न आनंद। न वे स्वयं को पूर्ण बना पाते हैं और न दूसरे में पूर्णता का साक्षात्कार कर पाते हैं। सब के सब आधे अधूरे से रह जाते हैं। सावित्री और महेन्द्रनाथ शायद कभी एक-दूसरे को प्यार करते होंगे, पर महेन्द्रनाथ के व्यवसाय में असफल होने के बाद सावित्री के हिस्से की जिम्मेदारी दिनोंदिन बढ़ती गयीं। और महेन्द्रनाथ दयनीय तथा असहाय होता गया। सावित्री के स्वर में प्रभुता की स्पष्ट झलक मिलती है, जो उसकी आर्थिक आत्म-निर्भरता से जुड़ी हुई है। मजबूरी और निर्भरता दोनों को एक-दूसरे से बाँधे हुए हैं। वे दोनों खुद अपनी कमजोरियों से बेज़ार दूसरे के दोष ढूँढ़ने में ही रत रहते हैं और एक-दूसरे की आज़ादी को अनवरत तोड़ते रहते हैं। सामाजिक स्वीकृति और स्थिरता का आधार विवाह है, इस परंपरागत अवधारणा को यह नाटक तोड़ता है। मल्लिका कालिदास की सफलता में अपनी सार्थकता समझती है, लेकिन सावित्री महेन्द्रनाथ के बनने-बिगड़ने से खुद को जोड़कर नहीं देखती। उसकी महत्वाकांक्षा उसकी अपनी है, वह सफल पति अवश्य चाहती है पर उसकी सफलता के लिए स्वयं को होम नहीं करना चाहती। किसी भी सफल दाम्पत्य जीवन का आधार है - स्त्री-पुरूष का आपसी सहयोग एवं साहचर्य की भावना। किन्तु सावित्री में अस्मिता-बोध इतना प्रखर है कि वह अपनी मुक्ति और अपनी सार्थकता की तलाश तो करती है लेकिन पति-पत्नी के बीच टूटते हुए संबंध विधान को जोड़ने की सार्थक पहल नहीं करती। महेन्द्रनाथ स्वयं भी पराजित एवं थके-हारे व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आता है, जो अपनी पत्नी के पुरूष मित्रों को लेकर सावित्री पर फब्तियाँ तो कसता है किन्तु एक बार असफल हो जाने के बाद न तो खुद अपने पैरों पर खड़ा होने की कोशिश करता है और न ही वैवाहिक संबंधों को सुधारने की चेष्टा ही। विवाह को लेकर सावित्री की स्पष्ट धारणा है, जो उसके निम्नलिखित संवाद में पूरे तौर पर मुखर हो उठी है :

"मुझे उस असलियत की बात करने दीजिए जिसे मैं जानती हूँ। .. .. एक आदमी है - घर बसाता है। क्यों बसाता है ? एक जरूरत पूरी करने के लिए।

कौन-सी जरूरत। अपने अन्दर के किसी उसको .. .. एक अधूरापन कह लीजिए उसे .. .. उसको भर सकने की। इस तरह उसे अपने लिए .. .. अपने में पूरा होना होता है। किन्हीं दूसरों को पूरा करते रहने में ही जिन्दगी नहीं काटनी होती।"[32]

यह सर्वविदित तथ्य है कि गृहस्थ आश्रम जीवन का सर्वाधिक कठिन आश्रम होता है। दाम्पत्य-सूत्र में बँधने के कुछेक प्रारंभिक वर्षों के मधुमास को छोड़कर शेष जीवन जिम्मेदारी कर्तव्य एवं साँझे सहयोग पर आधारित होता है। एक सुखी परिवार की बुनियाद स्त्री-पुरूष के मजबूत रिश्ते एवं आपसी विश्वास पर आधारित होती है। आधे-अधूरे में अभिव्यक्त सावित्री-महेन्द्रनाथ के संबंध की विडम्बना यही है कि वह मजबूत रिश्ता बन ही नहीं पाता जो उनकी बढ़ती हुई जिम्मेदारियों और समय के दबाव को झेल पाये। यही कारण है कि आर्थिक बदहाली और स्नेह से वंचित उनके बच्चों का उत्तरदायित्व वे वहन नहीं कर पाते और उनका परिवार धीरे-धीरे ढह जाता है। एक अन्य स्तर पर इस नाटक में स्वाधीन भारत की कामकाज़ी महिला (कैरियर वुमन) के विवाहेतर संबंधों को भी दर्शाया गया है। यह एक ऐसा पहलू है, जो सिर्फ आधुनिक युग में ही स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता के बाद संभव हुआ। अलग-अलग पुरूष मित्रों के साथ सावित्री का व्यवहार भी अलग है, जो उसके व्यक्तित्व के विविध पक्षों को उजागर करता है। सिंधानिया के साथ सावित्री का संबंध अतिरिक्त मिठास, शिष्टाचार और अवसरवादिता से समन्वित है। ऐसा नहीं है कि वह सिंधानिया की असलियत से अनजान है, पर उसके मातहत काम करना उसकी मजबूरी है और वह जानती है कि सिंधानिया जैसे बॉस को वह विनम्र और शालीन होकर ही जीत सकती है। सिंधानिया और अपने संबंध को वह एक ऐसे 'चेक' के रूप में देखती है, जिसे अवसर मिलने पर उसे भुनाना है - अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलाकर। यह रिश्ता बेहद औपचारिक, कृत्रिम एवं गैर-बराबरी का है। अपने दूसरे पुरूष मित्र जगमोहन के साथ सावित्री का रिश्ता काफी पुराना, घनिष्ठ, अनौपचारिक और बेफिक्री का है। यही कारण है कि वह उसे 'जोग' नाम से बुलाती है। जगमोहन के साथ उसके रिश्ते में चूँकि किसी प्रकार का दायित्व शामिल नहीं है, इसलिए यह रिश्ता रोमानियत से भरा हुआ है। पहले कभी जगमोहन सावित्री से विवाह करने की इच्छा रखता था परंतु निर्णय के किसी क्षण में सावित्री ने महेन्द्रनाथ से विवाह कर लिया, जिसका पछतावा उसे जीवन पर्यंत रहा। परिस्थितियों से लड़ते हुए अपने जुझारूपन का परिचय देती हुई सावित्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि घर के लिए इतना कुछ करने पर भी जब घर नहीं बन पा रहा तो स्वयं अपने विषय में क्यों न सोचे ? दाम्पत्य जीवन के संस्कार धीरे-धीरे घिस गए हैं पर फिर भी वे शेष हैं यही कारण है कि लक्ष्मणरेखा को पार करने से वह हिचक रही है। 'कुक्कू' के रूप में उसका संक्रमण एक कठिन निर्णय है, लेकिन उसके हिसाब से यह जरूरी है। यह सावित्री की विडंबना ही है कि जब वह घर छोड़ने का निर्णय लेती है तो जगमोहन कई वाजिब कारण सुनाकर उसे टाल देता है। इस तरह संबंधों के नखलिस्तान में सावित्री और जगमोहन का संबंध 'ओएसिस' बनकर रह जाता है जो इस शुष्क, रूखे नाटक को थोड़ा रोमानी तो बनाता है, पर किसी सार्थक जीवनानुभव की ओर अग्रसर

नहीं करता। यह संबंध भी अंततः आधा-अधूरा ही रह जाता है और उसे अपनी मंजिल नहीं मिलती। सावित्री और जुनेजा के संबंध में शायद पहले कभी मिठास थी - इसका संकेत नाटक में मिलता है। यह तब की बात है जब वह जुनेजा को एक काबिल भरोसेमंद और लायक आदमी समझती थी। पर जुनेजा धीरे-धीरे महेन्द्रनाथ के करीब होता गया और सावित्री से दूर होता गया। नाटक के अंत में वह महेन्द्रनाथ का पक्ष लेकर सावित्री को अत्यंत निर्ममता से उधेड़ता है। सावित्री और जुनेजा के बीच इतनी कटुता थी कि उसमें रिश्ते की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। जुनेजा के माध्यम से लेखक ने सावित्री की स्थापनाओं को तोड़ा है और मनोज और सावित्री के संबंध को उभारकर सावित्री के चरित्र पर भी उँगली उठाई है जिससे सावित्री की स्थापित मूर्ति ढह जाती है। जुनेजा पुरूष की सामंतवादी प्रकृति का पोषक है और पुरूष द्वारा स्त्री पर हाथ उठाने को गलत नहीं समझता।

इस नाटक में राकेश ने बिन्नी और मनोज के संबंध के माध्यम से सावित्री और महेन्द्रनाथ के संबंध की ही पुनरावृत्ति की है। बिन्नी और मनोज का रिश्ता भी धीरे-धीरे टूट रहा है, जिसकी झलक सावित्री और बिन्नी के संवादों में अनायास ही मिल जाती है:

"बड़ी लड़की : क्योंकि मुझे नहीं लगता है कि .. .. कैसे बताऊँ, क्या लगता है? वह जितने विश्वास के साथ यह बात कहता है, उससे .. .. मुझे अपने से एक अजीब सी चिढ़ होने लगती है। मन करता है . .. . मन करता है, आसपास की हर चीज़ को तोड़-फोड़ डालूँ। कुछ ऐसा कर डालूँ जिससे .. ..।

स्त्री : जिससे ?

बड़ी लड़की : जिससे उसके मन को कड़ी से कड़ी चोट पहुँचा सकूँ। उसे मेरे लम्बे बाल अच्छे लगते हैं। इसलिए सोचती हूँ, इन्हें जाकर कटा आऊँ। वह मेरे नौकरी करने के हक में नहीं है। इसलिए चाहती हूँ कहीं भी, कोई भी छोटी-मोटी नौकरी ढूँढ़कर कर लूँ। कुछ भी ऐसी बात जिससे एक बार तो वह अन्दर से तिलमिला उठे।"[33]

मनोज, बिन्नी अर्थात् बड़ी लड़की को हमेशा यह अहसास दिलाता है कि कोई ऐसी मनहूस चीज़ है इस घर में जिसे वह अपने साथ लेकर गयी है और यह चीज़ उसे सहज नहीं रहने देती। नाटक में इस बात का संकेत है कि बिन्नी घर के घुटन भरे वातावरण से मुक्ति चाहती थी और पहला मौका मिलते ही वह मनोज के साथ भाग खड़ी हुई। पहले उसे लगता था कि वह मनोज को अच्छी तरह जानती है, लेकिन शहरी जीवन के दबाव और जटिल परिस्थिति ने उसकी धारणा को खोखला साबित कर दिया। साथ-साथ रहने पर भी दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी बने रहे। इस प्रकार बिन्नी और मनोज के संबंध में सुखी तथा स्वस्थ दांपत्य जीवन के संकेत नहीं मिलते। वस्तुतः 'आधे-अधूरे' स्त्री-पुरूष के बीच लगाव और तनाव को अत्यंत

प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त करता है और इस प्रकार यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन का महत्वपूर्ण दस्तावेज बन जाता है।

(iv) निष्कर्ष एवं मूल्यांकन :

अपने नाटकों के माध्यम से राकेश ने यह दर्शाने की कोशिश की है कि स्त्री-पुरूष संबंधों में कोई समीकरण संभव नहीं है। उनके सभी स्त्री-पात्रों में जीवनेच्छा प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। जीने की ललक, जुझारूपन, अपनी अस्मिता का बोध एवं अपने दायित्व का निर्वाह राकेश के स्त्री-पात्रों को उनके पुरूष-पात्रों की अपेक्षा अधिक सबल बनाता है। यही कारण है कि केन्द्रीय चरित्र के रूप में 'मल्लिका', 'सुन्दरी' एवं 'सावित्री' ही उभरती हैं और नाटक इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता प्रतीत होता है। उनके स्त्री-पात्रों में एक ओर परंपरागत भारतीय संस्कार दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर आधुनिक जीवन दृष्टि भी। जहाँ उनमें स्नेह, समर्पण, निष्ठा जैसे सामाजिक मूल्यों की प्रधानता है वहीं प्रखर अस्तित्व-बोध भी है। कुल मिलाकर राकेश के नाटकों में स्त्री-अस्मिता के विविध आयामों को रूपायित किया गया है। इसके साथ ही नाटककार ने स्त्री-पुरूष संबंधों के विविध धरातलों को भी उद्घाटित किया है। उनकी रचनाएँ स्त्री-पुरूष संबंधों के लगाव और तनाव को पूरी प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त करती हैं। इनमें अभिव्यक्त संबंध विधान किसी पूर्व निर्धारित मान्यता पर आधारित नहीं है बल्कि जटिल और निरन्तर विकासशील सामाजिक जीवन के अनुरूप ही संश्लिष्ट और सतत परिवर्तनशील है।

संदर्भ सूची :

1. स्त्री उपेक्षिता : सीमोन द बउआ, (द सेकेण्ड सैक्स का प्रभा खेतान द्वारा अनुवाद) पृ. 343
2. उपरोक्त : पृ. 327
3. सुवर्णलता : आशापूर्णा देवी : पृ. 38-39
4. A second wave of the women's movement can be clearly seen in the seventies when many women helped to found trade unions and co-operatives to organise slum-dwellers and tribal people. Meanwhile there has been a rapid growth in women's education and numbers of women in all forms of work, many of the younger women writers are part of this activist ambience.

   The Inner Country yard : Lakshmi Holmstorm, P - xi.
5. सफदर हाशमी द्वारा हिन्दी में अनूदित। ' चौक-चौक पर गली गली में' नामक पुस्तक से, पृ. 1 - 3
6. आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 12
7. कामायनी : जयशंकर प्रसाद - पृ. 45
8. आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 48
9. उपरोक्त : पृ. 93-94
10. उपरोक्त : पृ. 77
11. उपरोक्त : पृ.13
12. उपरोक्त : पृ. 70
13. लहरों के राजहंस - पृ. 79
14. उपरोक्त : पृ. 76
15. उपरोक्त : पृ. 50
16. उपरोक्त : पृ. 37
17. उपरोक्त : पृ. 61
18. उपरोक्त : पृ. 62
19. उपरोक्त : पृ. 99

20.उपरोक्त : पृ. 125

21."Age cannot wither her, nor custom stale/

Her infinite variety, other women cloy

The appetites they feed /

She makes hungry, wheremost she satisfies/"

The complete works of Walliam Shakeshpeare:

Antony and Cleopatra [II (ii) 753]

22.आधे-अधूरे : मोहन राकेश - पृ. 65-68

23.उपरोक्त : पृ. 55

24.उपरोक्त : पृ. 29

25.इकोनॉमिक एंड फिलासाफिक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844 : कार्ल मार्क्स (राजकिशोर द्वारा रचित 'स्त्री-पुरूष : कुछ पुनर्विचार' से उद्धृत)

26.स्मारिका - मोहन राकेश नाट्य समारोह (3,20 दिसम्बर 1992) पृ. 9

27.जयशंकर प्रसाद : कामायनी पृ. 25

28.कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, पृ. 63

29.आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 93-94

30.स्त्री-पुरूष : कुछ पुनर्विचार : राज किशोर , पृ. 16

31.लहरों के राजहंस पृ. 114 - 115

32.आधे-अधूरे : मोहन राकेश - पृ. 84

33.उपरोक्त : पृ. 29